Print ISSN 2394 - 9805 Online ISSN: 2455 - 0256

समाज कार्य एवं सामाजिक न्याय : एक अन्तर्सम्बन्ध

डॉ0 निमिषा गुप्ता, डॉ0 बंशीधर पाण्डेय

एसोसिएट प्रोफेसर, समाज कार्य विभाग, म0गां0काशी विद्यापीठ,वाराणसी।

सामाजिक न्याय के लक्ष्य की प्राप्ति में जनसंचार माध्यमों का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। जनसंचार के विभिन्न माध्यमों से ही सामाजिक न्याय की संकल्पना का प्रचार–प्रसार होता है। जनसंचार के माध्यमों में से कुछ माध्यमों यथा–समाचार पत्र, पत्रिकाएँ, इण्टरनेट आदि की पहुँच केवल पढ़े–लिखे व तथाकथित सम्पन्न वर्ग तक ही है। परन्तु रेडियों व टेलीविजन जैसे इलेक्ट्रानिक मीडिया की पहुँच पढे–लिखे लोगों के साथ ही अपनढ़ व समाज के कमजोर वर्गो तक भी है। इसी कारण दूरदर्शन, आकाशवाणी व विभिन्न समुदायों में स्थापित सामुदायिक रेडियों स्टेशनों की भूमिका इस दिशा में महत्वपूर्ण हो जाती है। इन सभी बातों में कठिनाई बस यह है कि सामाजिक न्याय क्या होता है, या सामाजिक न्याय किस प्रकार सम्भव है ? इसकी जानकारी न तो विभिन्न जनसंचार माध्यमों के पाठकों, श्रोताओं या दर्शकों को ही ठीक–ठाक है न ही इन कार्यक्रमों का नियोजन कर प्रसारित करने वाले व्यावसायिकों को ही सामाजिक न्याय की अवधारणा की ठीक–ठीक समझ है। सामाजिक न्याय प्राप्ति की दिशा में समाज कार्य व्यावसायिकों की भूमिका अपेक्षित होती है। समाज कार्य व्यावसायिक यदि जन–संचार तकनीकों का कुशलता पूर्वक उपयोग करें तो सामाजिक न्याय की स्थापना का मार्ग स्वतः ही प्रशस्त हो जाता है। परन्तु भारतीय परिस्थितियों में अभी तक समाज कार्य व्यवसायिकों द्वारा जनसंचार माध्यमों का उपयोग अपेक्षित ढ़ंग से नही किया गया है। अक्सर समाज कार्य अभ्यासकर्ता भी सामाजिक न्याय की संकल्पना को भली–भॉति नहीं समझते है। इसी कारण भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वास्तविकता यह है कि सामाजिक न्याय को समझे बिना समाज कार्य का अभ्यास बेमानी ही है। इसीलिए इस शोध पत्र में समाज कार्य व सामाजिक न्याय के अर्न्तसम्बन्धों का विवेचन करते हुए यह देखने का प्रयास किया गया है कि समाज कार्य किस प्रकार जनसंचार तकनीकों का बेहतर ढंग से उपयोग करते हुए सामाजिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

एक प्रचलित मुहावरा है कि 'सभी उँगलियाँ बराबर नहीं होती हैं' जिसका साधारण अर्थ होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव, योग्यता व रुचियों में असमानता होती है और यही असमानता उसे दूसरों से अलग करती है तथा उसे अनन्य या अद्वितीय बनाती है। परन्तु इसी मुहावरे के साधारण अर्थ को भी समाज ने जटिल बना दिया है तथा प्रायः इसका यह अर्थ निकाला जाता है कि सभी व्यक्ति भी बराबर नहीं होते हैं। अतः रंग, भाषा, जाति, प्रजाति, लिंग, स्थान आदि के आधार पर उनमें गैर बराबरी वाजिब भी है और अपेक्षित भी। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जो अप्राकृतिक या गौर–वॉछित हो इसीलिए 'ऊँच–नीच' की अवधारणा समाज मे व्यापक रूप से फैली हुई है। प्रश्न यह उठता है कि क्या समाज में किसी व्यक्ति को ऊँचा तथा किसी को नीचा कहा जाना चाहिए? क्या समाज में एक व्यक्ति शासक और दूसरा शोषित होना चाहिए ? क्या किसी व्यक्ति को अयोग्य मानकर उसे मुख्यधारा से अलग करने का अधिकार किसी व्यक्ति या समुदाय को होना चाहिए ? क्या संसाधनों पर कुछ व्यक्तियों का आवश्यकता से अधिक अधिकार होना चाहिए? क्या किसी जाति या धर्म या स्थान विशेष या लिंग में जन्म लेने के कारण ही व्यक्ति श्रेष्ठ या हीन माना जाना चाहिए? क्या समाज द्वारा स्वयं निर्मित मानकों के आधार पर यदि व्यक्ति की बुद्धि लब्धि अधिक है तो उसे कम बुद्धि–लब्धि वाले व्यक्ति की तुलना में श्रेष्ठ माना जाना चाहिए ? क्या किसी उच्च शिक्षण संस्थान से बड़ी–बड़ी डिग्रियाँ प्राप्त करने वाले व्यक्ति अल्पशिक्षित या अशिक्षित व्यक्ति की तुलना में श्रेष्ठ है? क्या विरासत में प्राप्त सत्ता, सम्पत्ति या व्यवसाय उस व्यक्ति की श्रेष्ठता का प्रतीक है? आदि। ऐसे अनेकों प्रश्न

हैं जो हमारे मन– मस्तिष्क को झंकृत कर देते हैं तथा ऐसा लगता है कि हम जिस समाज में रह रहे हैं, वह अन्याय की अवधारणा पर ही टिका हुआ है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'सर्वोत्तम व्यक्ति' के जीने की अवधारणा (Survival of The Fittest) सामाजिक डार्विनवाद (Social Darvinism) आदि के द्वारा यह विचारधारा प्रबल होने लगी कि यदि व्यक्ति को समाज में रहना है तो उसे स्वयं को योग्य बनाना होगा अन्यथा वह अपने आप नष्ट हो जाएगा। इन विचारधाराओं ने ऊँच–नीच, योग्य–अयोग्य, सक्षम–अक्षम आदि अवधारणाओं को और प्रबल बना दिया। सामाजिक जीवन सहयोग, सौहार्द, समन्वय के स्थान पर आर्थिक स्थिति से अधिक नियन्त्रित होने लगा। व्यक्ति–व्यक्ति के सम्बन्ध भावनात्मक, संवेगात्मक, सामाजिक न होकर आर्थिक आधारों पर निर्धारित होने लगे। ऐसा भी नहीं है कि इसके पूर्व समाज में असमानता, कुरीतियाँ या अन्याय नहीं है, परन्तु इन विचारधाराओं ने अन्यायों में और अधिक वृद्धि कर दी। पूरे विश्व में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व धार्मिक आधारों पर ऊँच–नीच, योग्य–अयोग्य, सक्षम–अक्षम वर्ग बन गए। इन्हीं आधारों पर व्यक्ति के साथ अनेकों अन्याय होते रहे और समाज, न्याय के स्थान पर अन्याय करता हुआ दिखने लगा।

मानवतावाद या मानवीय दृष्टिकोण यह है कि अपने परिवार का भरण–पोषण, उसकी सहायता तो जीव जन्तु, पशु–पक्षी भी करते हैं, परन्तु मनुष्य ऐसा प्राणी है जो सम्पूर्ण समाज के उत्थान हेतु प्रयत्नशील रहता है तथा मनुष्य अभावग्रस्त व्यक्ति के अभावों की पूर्ति या पीड़ित व्यक्ति के चोटों पर मरहम लगाने हेतु उसकी निःस्वार्थ सहायता करता है। वस्तुतः कोई भी समाज तभी उन्नत व खुशहाल रह सकता है, जब उस समाज का प्रत्येक व्यक्ति कष्टरहित हो। किसी भी समाज में यदि मात्र मुट्ठीभर लोग सुविधासम्पन्न हों और शेष कष्टमय जीवन व्यतीत कर रहे हों, तो ऐसा समाज उन्नत समाज की श्रेणी में नहीं आ सकता, क्योंकि पीड़ित व्यक्ति के कष्टों का दुष्प्रभाव स्पष्ट रूप से सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है। इसीलिए समाज के जागरूक व्यक्तियों को सम्पूर्ण समाज के हित में अपना हित दिखायी देता है। सामाजिक संस्थाओं का अभ्युदय भी इन्हीं उद्देश्यों के साथ हुआ था। परन्तु जैसे–जैसे सामाजिक संस्थाओं और संरचनाओं में विकृति आने लगी, वैसे–वैसे समाज में असामान्य वितरण, भेदभाव, शोषण आदि दृष्टिगोचर होने लगे। सत्ता, संसाधनों व सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त करना ही प्रत्येक व्यक्ति का अभीष्ट हो गया।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, वसुधैवकम कुटुम्बकम्, सन्तोषम् परमं सुखम आदि सूत्र वाक्य शनैः–शनैः अप्रासंगिक कर दिए गए तथा इसके स्थान पर भौतिकवादी विचारधारा विकसित होने लगी जिसमें आत्मकेन्द्रण, व्यक्तिवादिता व स्वार्थपरता प्रमुख हो गई है। विकास के नाम पर गलाकाट प्रतिस्पर्धा ने अक्षम व अशक्त व्यक्तियों का जीवन कठिन व बदतर बना दिया है।

समाज में कमजोर व अशक्तों के साथ हो रहे विभिन्न प्रकार के अन्यायों का प्रतिकार व्यक्तिगत स्तर पर तो हुआ ही, साथ ही साथ अनेक महान विभूतियों, समाज सुधारकों, नेतृत्वकर्ताओं आदि द्वारा आन्दोलन भी चलाए गए। दुनिया के अलग–अलग हिस्सों में अलग–अलग लोगों ने इन आन्दोलनों का नेतृत्व किया तथा लोगों को न्याय दिलवाने हेतु संघर्ष भी किया। इनमें से कुछ प्रयास सफल भी रहे तो कुछ असफल भी रहे, परन्तु इनका सुखद परिणाम यह रहा है कि व्यक्ति में अपने अस्तित्व व अधिकारों को लेकर चेतना जागृत हुई और अन्याय का प्रतिकार करना उसकी आदत में शुमार होने लगा। इसी चेतना का परिणाम था कि स्त्रियाँ, श्रमिक, दलित, काले लोग, अल्पसंख्यक आदि अपने अधिकारों के प्रति सचेत होने लगे और धीरे–धीरे उन्हें सक्षम सरकारों द्वारा तवज्जो भी मिलने लगी। यह संघर्ष अभी भी जारी है, तथा दुनिया के अनेक राष्ट्रों में अब मानवाधिकारों के प्रति सजगता प्रत्यक्ष रूप में दिखायी पड़ रही है। परन्तु अभी भी समाज में न्याय की व्यवस्था को पूर्ण रूप से स्थापित किया जाना शेष है। सामाजिक न्याय के संघर्षों की

गाथा में जिन महान् विभूतियों का योगदान अविस्मरणीय है उनमें महात्मा गांधी, बाबा साहब डॉ0 भीमराव अम्बेडकर, मार्टिन लूथर किंग अब्राहम लिंकन, नेल्सन मण्डेला, आदि प्रमुख रहे हैं। इन विभूतियों के साथ ही कुछ व्यवसायों व व्यावसायिकों ने भी सामाजिक न्याय की दिशा में स्तुत्य योगदान दिया है जिसमें समाज कार्य व्यवसाय अग्रणी रहा है। समाज कार्य व्यवसाय में प्रारम्भ से ही सामाजिक न्याय को एक मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है तथा समाज कार्य, सामाजिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में ही प्रयत्न करता है। जुलाई 2000 में इण्टरनेशनल फेडरेशन ऑफ सोशल वर्क (IFSW) ने समाज कार्य को परिभाषित करते हुए लिखा है कि समाज कार्य सामाजिक परिवर्तन, मानवीय सम्बन्धों में समस्या समाधान, व्यक्तियों के सशक्तिकरण और स्वतन्त्रता को बढ़ावा देता है। समाजकार्य, मानव व्यवहार व सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्तों का उपयोग करते हुए उस बिन्दु पर हस्तक्षेप करता है जहाँ व्यक्ति अपने पर्यावरण के साथ अन्तर्क्रिया करता है। सामाजिक न्याय व मानवाधिकार के सिद्धान्त समाज कार्य में बुनियादी महत्व रखते हैं।''

यह परिभाषा इंगित करती है कि समाज कार्य द्वारा जिस प्रकार के समाज की स्थापना की कल्पना की जाती है वह सामाजिक न्याय के बगैर सम्भव नहीं है। अतः प्रत्येक सामाजिक कार्यकर्ता को सामाजिक न्याय की अवधारणा से भलीभाँति परिचित होना आवश्यक प्रतीत होता है। इसी दृष्टि से अग्रांकित पृष्ठों में समाजकार्य की दृष्टि से सामाजिक न्याय को समझने का प्रयास किया जा रहा है।

सामाजिक न्याय की अवधारणा न तो पुरातन है, न ही नवीन बल्कि यह तो समाज के निर्माण से लेकर अभी तक निरन्तर चली आ रही है क्योंकि प्राचीन काल से ही सामाजिक संरचना इसी प्रकार की रही है कि सामाजिक या आर्थिक स्तर पर भेदभाव हो ही जाता है। ऐसे में समाज में व्याप्त असमानता व भेदभाव से मुक्ति हेतु सामाजिक न्याय की माँग बनी ही रहती है। परन्तु दुर्भाग्यवश अभी भी विश्व के अनेकों हिस्सों में सामाजिक न्याय एक स्वप्न ही बना हुआ है। सामाजिक न्याय को समझने के से पहले न्याय की अवधारणा को समझना आवश्यक हो जता है। डी.डी. रैफल के अनुसार ''न्याय द्विमुख है, जो एक साथ अलग–अलग चेहरे दिखलाता है। वह विधिक व नैतिक दोनों है। उसका सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्था से है। इसका सरोकार जितना व्यक्तिगत अधिकारों से है उतना ही सामाजिक अधिकारों से भी है। न्याय रूढ़िवादी होने के साथ ही सुधारवादी भी है। (डी.डी. रैफल, 1977, प्राब्लम्स ऑफ पॉलिटिकल फिलॉसफी, मैकमिलन, नई दिल्ली, 165)

प्लेटो के अनुसार, ''न्याय वह सद्गुण है, जो अन्य सद्गुणों के बीच सामन्जस्य स्थापित करता है।''

अरस्तू के अनुसार, ''न्याय से आशय, आवश्ययक रूप से एक खास स्तर की समानता है, जो व्यवहार की समानता तथा आनुपातिकता पर आधारित होती है।''

न्याय के ही सिद्धान्तों में से एक विचार के रूप में सामाजिक न्याय की अवधारणा का अभ्युदय हुआ है। एक अवधारणा के रूप में सामाजिक न्याय की आधारशिला सभी मनुष्यों की समानता पर आधारित है। अर्थात् किसी भी व्यक्ति के साथ सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों के कारण भेदभाव नहीं होना चाहिए। यदि व्यक्ति के साथ इन आधारों पर भेदभाव हो जाता है, तो ऐसे व्यक्तियों को न्याय उपलब्ध कराया जाना चाहिए। यह अन्याय चाहे वर्ण, लिंग, आर्थिक स्थिति, परम्परा, भाषा, शारीरिक संरचना आदि में से किसी पर भी आधारित हो सकता है। इसीलिए सामाजिक न्याय अपने मूल रूप में विशेषाधिकार आधारित योग्यतावाद के विरुद्ध एक अन्तहीन युद्ध है। मानवतावाद व करुणा इस युद्ध के स्थायी भाव हैं तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सभी को समान अवसर की उपलब्धता हेतु संघर्ष व सामाजिक विविधता का सिद्धान्त इस युद्ध के शस्त्र और अस्त्र हैं।

सामाजिक न्याय की अवधारणा व्यक्ति–व्यक्ति के बीच उनकी सामाजिक स्थिति के आधार पर भेदभाव की मनाही करता है तथा इसके द्वारा यह भी प्रयत्न किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को विकास हेतु पूर्ण अवसर उपलब्ध हो। इसका आशय है कि सभी मनुष्यों को बगैर किसी सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों के समान माना जाए तथा प्रत्येक व्यक्ति के पास इतने संसाधन होने चाहिए कि वह अपने लिए संकल्पित 'उत्तम जीवन' को मूर्त रूप दे सके। इस हेतु वर्तमान युग में राजनैतिक रूप से दृढ़ इच्छाशक्ति की आवश्यकता है।

यद्यपि प्राचीन काल से ही एक विचार के रूप में विभिन्न धर्मों की बुनियादी शिक्षाओं में सामाजिक न्याय की विचारधारा स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती रही है, परन्तु धर्म का जो व्यावहारिक रूप प्रकटित हुआ है, उसमें अनेकों रूपों में ऊँच–नीच और भेदभाव जुड़ता गया है। इसके परिणामस्वरूप कुछ लोग या वर्ग या जातियाँ प्रभावी होती गयी और इसी कारण अन्य लोग हीन या दुर्बल होते गए। समाज में अनेक ऐसी कुरीतियाँ, रूढ़ियाँ व कुप्रथाएँ निर्मित होती चली गई, जो अशक्तों के पास में कभी नहीं रहीं। इन्हीं कुरीतियों, रूढ़ियों, कुप्रथाओं, परम्पराओं पर रोक लगाने के लिए ही अनेक सुधारकों व विचारकों ने सामाजिक न्याय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

जस्टिस के0 सुब्बाराव के अनुसार "सामाजिक न्याय सभी के प्रति न्यायसंगत व निष्पक्ष होता है न कि किसी व्यक्ति विशेष के प्रति।" कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवादी व्यवस्था में बुर्जुआ स्वामित्व और शोषण को समाप्त करने की बात की गयी है। इस व्यवस्था में माना जाता है कि यह वितरण न्यायपूर्ण है क्योंकि इसमें प्रत्येक को सामाजिक उत्पादन में दिए गए श्रम के योगदान के अनुसार अपना हिस्सा प्राप्त होगा। मार्क्स की दृष्टि में यही सामाजिक न्याय था भारतीय सन्दर्भ में भी अनेकों महापुरुषों एवं विद्वानों ने सामाजिक न्याय की स्थापना हेतु प्रयत्न व संघर्ष किया है। महात्मा गांधी के संरक्षकता सिद्धान्त में वर्णित समाज सुधार के कार्यों के रूप में हम सामाजिक न्याय के प्रति उनकी जागरूकता को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। इसी प्रकार स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं0 जवाहर लाल नेहरू का मानवतावाद भी सामाजिक न्याय के विचार से मेल खाता था। पं0 नेहरू ने सदैव आर्थिक शक्तियों के केन्द्रीकरण नहीं किए जाने के पक्ष में प्रयास किया ताकि विकास कार्यों का लाभ समाज के सभी वर्गों को समान रूप से प्राप्त हो सके और यही सामाजिक न्याय है।

स्वतन्त्र भारत में सामाजिक न्याय की अवधारणा को स्थापित करने का श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को जाता है तो वह भारतीय संविधान के शिल्पी डॉ0 भीमराव अम्बेडकर हैं। उनके ही संघर्षों एवं कृत्यों का सुखद परिणाम रहा है कि भारतीय संविधान में मन्त्र व तन्त्र सामाजिक न्याय के सिद्धान्त से पालित व पोषित रहे हैं। बाबा साहेब अम्बेडकर ने समान अवसर के आधार पर न्याय को बढ़ावा देने तथा असमानताओं को समाप्त करने के रूप में सामाजिक न्याय की संकल्पना की है।

डॉ0 अम्बेडकर के अनुसार सामाजिक न्याय के द्वारा समाज के कमजोर वर्ग के साथ न केवल न्याय हो, बल्कि उसके अधिकार व हित भी सुरक्षित हों। वे जिस सामाजिक न्याय की अवधारणा का प्रतिपादन करते हैं वे नस्लभेद, लिंगभेद और क्षेत्रीयता के भेद से मुक्त हो।

कई बार समाज की संरचना इस प्रकार की होती है कि आर्थिक व सामाजिक स्तर पर भेदभाव हो ही जाता है। समाज में फैली असमानता और भेदभाव से सामाजिक न्याय की माँग और तेज हो जाती है। सामाजिक न्याय से आशय समाज के सभी वर्गों को एक समान विकास करने हेतु अवसर उपलब्ध कराना है। सामाजिक न्याय यह भी सुनिश्चित करता है कि समाज का कोई भी व्यक्ति रंग, धर्म, वर्ण, लिंग, जाति, भाषा, क्षेत्र आदि के कारण विकास की दौड़ में पीछे न रह जाए। यह तभी सम्भव हो सकता है जब समाज

में भेदभाव को हटाया जाए। यदि इस समाज से भेदभाव हटाने के उद्देश्य को प्राप्त करना है तो समाज कार्य व्यवसाय की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। इसीलिए समाजकार्य के दार्शनिक आधारों में सामाजिक न्याय के सिद्धान्त को प्रमुखता दी गयी है। समाजकार्य व्यवसाय प्रारम्भ से ही मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता व क्षमता के अनुसार वृद्धि व विकास के अवसर प्राप्त होने चाहिए। इसी के साथ समाज कार्य की यह भी दृढ़ मान्यता रही है कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ गुण अवश्य होते हैं और इन्हीं गुणों को अन्वेषित कर व्यक्ति के विकास पथ को सुगम बनाया जा सकता है। इस हेतु समाज कार्य ने छः विधियों व प्रत्येक विधि में अनेक तकनीकों का विकास किया है जिसके उचित उपयोग द्वारा व्यक्ति की योग्यताओं की पहचान तथा विकास किया जा सकता है। विकास के अवसर उपलब्ध कराने हेतु भी समाज कार्य की विधियाँ विशेष रूप से सामुदायिक संगठन, समाज कल्याण प्रशासन एवं सामाजिक क्रिया अत्यन्त कारगर है। यदि व्यक्ति की योग्यताओं की पहचान कर उसके विकास हेतु अवसर व संसाधन उपलब्ध करा दिए जाए एवं समय–समय पर उसके समक्ष आने वाली बाधाओं को भी दूर कर दिया जाएं, तब व्यक्ति के साथ न तो अन्याय होगा, न ही वह विकास की दौड़ में दूसरों से पीछे रहेगा, और समाज कार्य में यही प्रयत्न किया जाता है। इसीलिए यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि समाजकार्य व्यवसाय सामाजिक न्याय की प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहता है।

समाजकार्य वंचित व्यक्तियों को उनका अधिकार दिलाने का प्रयास करता है तथा वह समाज में व्याप्त असामनताओं, अन्यायों तथा व्यक्ति के विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं का पता लगाता है। ऐसा करते हुए समाज कार्य का उद्देश्य व्यक्ति की पूर्ण अन्तः शक्ति का विकास करने, उनके विकास को समृद्ध बनाने तथा विभिन्न बुराइयों को रोकने में उनकी सहायता करना है। सामाजिक कार्यकर्ता समाज में व्यक्ति, परिवार तथा समुदाय की दशाओं में सकारात्मक परिवर्तन लाने हेतु सतत् प्रयत्नशील रहता है क्योंकि, इसमें यह मान्यता है कि इन तीनों में सकारात्मक परिवर्तन लाने से स्वतः ही अन्याय समाप्त हो जाएगा तथा व्यक्ति को उसके अधिकारों की प्राप्ति हो पाएगी। इन लक्ष्यों को मूर्त रूप देने हेतु ऐसे अभ्यासकर्ताओं की आवश्यकता है जिन्हें न केवल सामाजिक न्याय व मानवाधिकार के सिद्धान्त का भलीभाँति ज्ञान हो बल्कि, उनकी इन सिद्धान्तों में गहरी आस्था भी हो। इसकी शुरूआत समाजकार्य विद्यालयों से ही होती है, जहाँ विद्यार्थियों का अभिमुखीकरण इस प्रकार किया जाता है कि वे सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों का अनुपालन सुनिश्चित करे तथा समाज में समता, बन्धुत्व व गरिमा के लिए सतत् प्रयत्नशील हों। समाजकार्य के विद्यालयों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने पाठ्यक्रम में सामाजिक न्याय व मानवाधिकार को उचित एवं पर्याप्त स्थान दें जिससे विद्यार्थियों में इन अवधारणाओं की बेहतर समझ विकसित हो सके जिसका सदुपयोग वे अभ्यासकर्ता के रूप में करेंगे।

अतएव निष्कर्ष स्वरूप यह कहना समीचीन होगा कि समाज कार्य अपने उद्भव काल से ही सामाजिक न्याय के सिद्धान्त के प्रति प्रतिबद्ध रहा है तथा समाज कार्य व्यावसायिकों ने सामाजिक न्याय की स्थापना में बढ़–चढ़ कर हिस्सा लिया है तथा अपना योगदान भी दिया है। परन्तु अभी भी समाजकार्य के शिक्षण संस्थानों के कार्यक्षेत्र एवं पाठ्यक्रमों में सामाजिक न्याय को अपेक्षित स्थान नहीं प्राप्त हो सका है। यद्यपि समाजकार्य की वैश्विक परिभाषा में यह उल्लिखित है कि सामाजिक न्याय का सिद्धान्त समाज कार्य के दार्शनिक आधारों में से एक है। इसका प्रभाव निश्चित रूप से भारत में ही नहीं, अपितु पूरे विश्व में होगा और आशा की जानी चाहिए कि समाज कार्य सामाजिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने में एक अचूक अस्त्र साबित होगा।

सन्दर्भ सूची–

- Bisno, Herbert, (1952), The Philosophy of Social Work Public Affairs Press, Washington, D.C.
- Hall, Nigel (Ed.) (2006) : Social Work making a world of Difference (Social Work Around the world IV in the year of IFSW's 50th Jubilee, IFSW and Fafo
- Jha, Jainendra Kumar (Ed) (2001), Encyclopaedia of Social Work (Vol.1) An Introduction to Social Work, Institute for Sustainable Development. Lucknow and Anmol Publication Pvt Ltd. New Delhi.
- www.socialworkfuture.org What does a radical mode of theory and practice base to offer social work practitioners, www.socialwork.org. Retreived on 11th June, 2017.
- गबा, ओम प्रकाश, *राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा*, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा,2001